THE ECONOMIC TIMES

*Date: 18-09-18*

# Merging Weakness Into Bank Strength

**ET Editorials**

The government proposes to merge Bank of Baroda, Vijaya Bank and Dena Bank to create the third-largest bank in the country after SBI and ICICI. One such merger might not be a bad idea, but the government should not rush into more bank mergers. Gigantism would add to systemic risks, harming the economy and the industry. The goal should be to keep banking competitive and to prevent the creation of banks that are too big to fail. The government should focus on strengthening existing banks, rather than tackle bad debt by making a healthy bank carry the burden of an errant bank's bad lending decisions. A few big banks are fine, but we need new banks of varying sizes that can compete for custom and achieve functional financial inclusion.

The hoped-for gains from the merger are efficiency in its treasury operations, enhanced customer base and market reach, and lower operating costs. The bigger size — the total business is estimated at Rs 14.82 lakh crore — would allow the merged bank finance large loans. But big projects should ideally tap the debt market, rather than bank finance. The merged entity should be well capitalised to cover risks. So, it is welcome the government has promised capital support. Its assurance that the interest of employees in all the banks would be protected is welcome as well. A common IT platform for all the three banks will facilitate the merger. The government claims that positive outcome of the merger of SBI with its associate banks in 2017 has promptedit to propose a merger of these three lenders. Dena Bank has been ailing — with a net NPA ratio of 11.04% — and is under prompt corrective action, or PCA. The net NPA ratios are lower at 4.10% for south-based Vijaya Bank and 5.4% for Bank of Baroda (BoB), a large-sized bank. BoB and Vijaya have business per employee that is about 50% higher than that of Dena Bank. The weaknesses of Dena Bank are being diluted by pooling them with the strengths of the other two. The culture that produced those weaknesses should not permeate the culture of the merged entity. This is a key challenge.

---

बिज़नेस स्टैंडर्ड

*Date: 18-09-18*

# बागवानी की चुनौतियां

**संपादकीय**

कृषि मंत्रालय का फसल संबंधी नवीनतम अनुमान बताता है कि वर्ष 2017-18 में बागवानी क्षेत्र की उपज ने खाद्यान्न उत्पादन को लगातार छठे साल भी पीछे छोड़ दिया है। यह अनुमान कृषि में उभर रहे कुछ नए रुझानों का भी जिक्र करता है जिनमें वाजिब नीतिगत कदमों की दरकार है। एक उल्लेखनीय बिंदु यह है कि 2014 और 2015 में सूखे के चलते खाद्यान्नों की पैदावार में जहां अस्थिरता और गिरावट दिख रही है वहीं बागवानी ने अपनी टिकाऊ प्रगति कायम रखी है और मॉनसून का भी उस पर कोई असर नहीं पड़ा है। फलों और सब्जियों के अलावा मसालों, जड़ी-बूटियों, और

फूलों जैसे दूसरे बागवानी उत्पादों का रकबा भी बढ़ रहा है। साफ है कि कृषि क्षेत्र में विविधता बढ़ रही है और किसान धीरे-धीरे अधिक मुनाफा देने वाले फलों एवं सब्जियों के उत्पादन जैसी नकदी खेती की तरफ आकर्षित हो रहे हैं। इस दिशा में बदलाव जारी रखने की जरूरत है। बागवानी के साथ पशुपालन एवं मत्स्यपालन को भी जोड़ दें तो ये मिलकर कृषि में उच्च-मूल्य वर्ग का सृजन करते हैं। अगर समुचित रूप से प्रोत्साहन दिया गया तो कृषि क्षेत्र में व्याप्त असंतोष को दूर करने में भी अहम भूमिका निभा सकते हैं।

यह रुझान इस लिहाज से भी अहम है कि किसी खास सरकारी समर्थन के बगैर ही ऐसा हुआ है। अगर अनाज की तरह बागवानी पर भी समुचित ध्यान दिया गया होता तो भारत इस मामले में दुनिया का अग्रणी देश बन चुका होता। वर्तमान में ताजा एवं प्रसंस्कृत फलों और सब्जियों के वैश्विक बाजार में भारत की हिस्सेदारी बेहद कम है। भारत के इन उत्पादों का दुनिया में दूसरे नंबर का उत्पादक होने के बावजूद यह स्थिति है। एक अन्य वजह से भी बागवानी को सरकारी प्रोत्साहन की जरूरत है। देशवासियों की आय में हो रही क्रमिक बढ़ोतरी के चलते फलों एवं सब्जियों का उपभोग और मांग दोनों ही बढ़ रहे हैं जबकि अनाजों के मामले में गिरावट देखी जा रही है। वैसे अतीत में चारों तरफ व्याप्त भूख को देखते हुए खाद्यान्नों को प्राथमिकता देना सही भी था। लेकिन अब यह लक्ष्य काफी हद तक हासिल किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में अपेक्षाकृत अधिक पोषक फलों और सब्जियों की उपलब्धता सुनिश्चित करने को तवज्जो देनी होगी।

दूसरी फसलों की तरह बागवानी उत्पादों के लिए भी लाभकारी मूल्य पर विपणन को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। फलों एवं सब्जियों को संरक्षित रखने के लिए शीत-गृहों, वातानुकूलित परिवहन और जल्द खराब होने वाले उत्पादों के प्रसंस्करण की सुविधाएं मुहैया कराने पर भी ध्यान देना होगा। सीधे उत्पादकों से संपर्क रखने वाले संगठित खुदरा क्षेत्र को प्रोत्साहन देने से भी वाजिब दाम पर बिक्री सुनिश्चित की जा सकती है। न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) वाले उत्पादों की सूची में एक भी फल या सब्जी का नहीं होना दुर्भाग्यपूर्ण है। एमएसपी की सूची में कुछ प्रमुख फलों एवं सब्जियों को भी शामिल करना बेहद जरूरी है। खासकर घरों में आम इस्तेमाल वाले आलू, प्याज और टमाटर को एमएसपी दायरे में लाया जाना चाहिए। इन उत्पादों की पैदावार और कीमतों में काफी उठापटक देखने को मिलती है। वर्ष 2017-18 में भी इन जिंसों की उपज में गिरावट देखी गई थी। बहुत जल्दी खराब होने वाले इन कृषि जिंसों के आयात-निर्यात से संबंधित स्थायी नीति नहीं होने को काफी हद तक इनकी कीमतों में अस्थिरता के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। जल्द खराब होने वाले कृषि उत्पादों के मूल्य स्थिरीकरण के लिए एक कोष वर्षों से मौजूद है लेकिन मामूली फंड और निकम्मे प्रशासन के चलते यह शायद ही अपना मकसद पूरा कर पाता है। अब समय आ गया है कि सरकार प्रमुख फलों एवं सब्जियों की उपज को घरेलू एवं निर्यात बाजार में बढ़ती मांग के अनुरूप बढ़ाने के लिए एक सक्षम एवं दीर्घकालिक नीतिगत पहल करे। ऐसा नहीं होने पर शायद कृषि में विविधता की मौजूदा प्रवृत्ति कायम न रह पाए।

---

***Date: 18-09-18***

# ग्रामीण युवाओं को कृषि से जोड़े बगैर नहीं बनेगी बात

**सुरिंदर सूद**

भारत के लिए आबादी की बढ़ती उम्र अभी उतनी गंभीर समस्या नहीं बनी है लेकिन यही बात कृषि के बारे में नहीं कही जा सकती है। मुश्किल से पांच फीसदी युवा आबादी ही खेती से जुड़ी है जबकि ग्रामीण आबादी की करीब 60 फीसदी संख्या खेती और संबंधित गतिविधियों में आंशिक या पूर्ण रूप से संलग्न है। स्पष्ट है कि आधुनिक युवाओं का कृषि से मोहभंग हो चुका है और एक पेशे के तौर पर उन्होंने इसे काफी हद तक तिलांजलि दे दी है। इसका नतीजा यह हुआ है कि खेती में लगी आबादी तेजी से उम्रदराज होती जा रही है। कृषि के भविष्य के लिहाज से ऐसा होना काफी बुरा है क्योंकि इससे कृषि अपनी पूरी क्षमता तक पहुंचने से वंचित रह सकता है।

कृषि कार्यों में युवाओं की भागीदारी काफी अहम है क्योंकि वे अधिक ऊर्जावान और उत्पादक होने के साथ ही नए विचारों एवं उन्नत तकनीक अपनाने के मामले में काफी उदार होते हैं। इसके अलावा युवाओं में जोखिम लेने का साहस होता है और वे धारा के विपरीत जाकर भी काम करने से परहेज नहीं करते हैं। कृषि क्षेत्र को शारीरिक दमखम के अलावा मानसिक ताकत की भी जरूरत है। इसके अलावा उत्साही एवं उद्यमी प्रवृत्ति की भी दरकार है जो युवाओं में भरपूर होती है। शहरी युवाओं की तरह ग्रामीण क्षेत्र के युवा भी बेहतर करियर एवं विकास संभावनाओं की तलाश कर रहे हैं लेकिन उन्हें गांवों में यह नजर नहीं आ रहा है। विकास कार्यक्रमों और नीतियों की नाकामी के चलते खेती अब भी मुनाफे का धंधा नहीं बन पाया है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन की गुणवत्ता भी समुचित रूप से सुधर नहीं पाई है। इस वजह से ग्रामीण युवाओं का कृषि एवं ग्राम्य जीवन से अलगाव होता जा रहा है। कृषि-योग्य भूमि के आकार में लगातार गिरावट, नवोन्मेषी विचारों एवं तकनीकी ज्ञान के अभाव, वित्त की सहज उपलब्धता न होने, कृषि उत्पादों की कारगर मार्केटिंग सुविधा के अभाव, निर्णय-निर्माण प्रक्रिया और नीतिगत मामलों में युवाओं की सीमित भागीदारी होने के अलावा एक व्यवसाय के तौर पर खेती की खराब छवि होने से ग्रामीण युवा तेजी से इससे विमुख हो रहे हैं। इन सभी बिंदुओं पर तत्काल एवं समग्र तौर पर ध्यान देने की जरूरत है ताकि युवा आबादी को गांवों में रहने के लिए प्रेरित किया जा सके।

कृषि में युवाओं की रुचि बनाए रखने की जरूरत का अहसास थोड़ी देर से हुआ है। मशहूर कृषि विशेषज्ञ एम एस स्वामीनाथन की अगुआई वाले राष्ट्रीय किसान आयोग ने भी वर्ष 2006 की अपनी रिपोर्ट में इसका जिक्र किया था। उस रिपोर्ट के बाद संसद में 2007 में स्वीकृत राष्ट्रीय किसान नीति में भी इसे एक उद्देश्य के तौर पर शामिल किया गया था। निस्संदेह उसके बाद से इस दिशा में कुछ नीतिगत कदम उठाए गए हैं लेकिन उनका असर सीमित इलाके तक ही रहा है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) ने युवाओं को कृषि की तरफ आकर्षित करने और उन्हें बनाए रखने के लिए 2015-16 में एक अनूठे कार्यक्रम 'आर्या' की शुरुआत की थी। लेकिन अभी तक इसका प्रसार केवल 25 जिलों में ही हो सका है। कुछ समय पहले केंद्रीय मंत्रिमंडल ने इसका विस्तार 100 जिलों तक करने के प्रस्ताव को मंजूरी दे दी है। आर्या योजना के तहत करीब 14 लाख युवाओं को हर साल रोजगारपरक प्रशिक्षण दिया जाएगा।

इन कार्यक्रमों का सही दिशा में क्रियान्वयन सुनिश्चित करने के लिए एक रोडमैप भी तैयार किया गया है। हाल ही में नई दिल्ली में संपन्न एक सम्मेलन में इस रोडमैप को अंतिम रूप दिया गया। युवाओं को कृषि कार्यों के लिए आकृष्ट एवं प्रोत्साहित करने (माया) के मकसद से इस सम्मेलन का आयोजन ज्ञान-आधारित कृषि से जुड़ी विभिन्न संस्थाओं ने किया था। इस सम्मेलन में स्वीकृत रणनीति में युवाओं को रोजगार तलाशने वाले की जगह रोजगार देने वाला बनाने की बात कही गई है। सम्मेलन के आयोजकों में शामिल संस्था ट्रस्ट फॉर एडवांसमेंट ऑफ एग्रीकल्चरल साइंसेज के चेयरमैन आर एस परोदा का मानना है कि अगर युवा रोजगार प्रदाता बन जाते हैं तो वे ग्रामीण क्षेत्रों में बदलाव के एजेंट बन सकते हैं।

कृषि कार्यों में युवाओं को आकर्षित करने के लिए तैयार इस रोडमैप में युवाओं को आर्थिक प्रगति और सामाजिक प्रतिष्ठा के तमाम मौके मुहैया कराने और खेती एवं संबद्ध कार्यों में आधुनिक तकनीकों के इस्तेमाल को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया है। रोडमैप में कहा गया है कि अगर युवाओं को बढिया तरीके से तैयार किया जाए तो शिक्षित ग्रामीण युवा भी एग्री-क्लिनिक जैसी सेवाओं का हिस्सा बन सकते हैं। एग्री-क्लिनिक में शिक्षित युवा किसानों को फसलों के चयन, बीमारियों से बचाव, कीटनाशकों के इस्तेमाल और रोजमर्रा की समस्याओं से दो-चार होने में मदद कर सकते हैं। इसके अलावा शिक्षित युवा ग्रामीण इलाकों में कृषि-सेवा केंद्र भी खोल सकते हैं जहां पर छोटे एवं सीमांत किसानों को किफायती दरों पर महंगे कृषि उपकरण मुहैया कराए जाएंगे। इन उपकरणों के इस्तेमाल से छोटे एवं सीमांत किसान भी कम लागत पर अपनी कृषि उपज बढ़ा सकते हैं।

इस रोडमैप में किसानों की तरफ से तैयार फसलों को भौतिक एवं ऑनलाइन बाजारों में बेचने में युवाओं को सहयोगी बनाने की भी बात कही गई है। पढ़े-लिखे युवा इलेक्ट्रॉनिक नैशनल एग्रीकल्चर मार्केट (ई-नाम) में किसानों की तरफ से मोलभाव कर कृषि उत्पादों की खरीद-बिक्री कर सकते हैं। सरकार भी अपने स्तर पर निवेश अनुदान, आसान कर्ज और दूसरी सुविधाएं मुहैया कराने में कृषि व्यवसाय से संबंधित स्टार्टअप में अपना योगदान दे सकती है। इसी तरह की सुविचारित धारणाओं की मदद से ग्रामीण क्षेत्र के युवाओं को कृषि कार्यों की तरफ आकर्षित किया जा सकता है। सरकार को इनके कारगर क्रियान्वयन पर फौरन ध्यान देने की जरूरत है।

---

दैनिक भास्कर

***Date: 18-09-18***

# जनरल रावत की आर्थिक टीस और पड़ोसियों को सीख

**संपादकीय**

भारत के सेनाध्यक्ष जनरल विपिन रावत का नेपाल और भूटान को भारत से दूर न जाने की सीख देते हुए यह कहना कि हर चीज आर्थिक ताकत के लिए ही हो रही है, एक बीज वक्तव्य है। उनके इस बयान में परोक्ष रूप से यह स्वीकार भी छिपा है कि भारत के पास चीन जितनी आर्थिक समृद्धि नहीं है और यही वजह है कि नेपाल-भूटान उसकी ओर झुक रहे हैं। जनरल रावत का यह बयान बिम्सटेक माइलेक्स-18 के पुणे में संपन्न हुए उस कार्यक्रम में आया है, जिसमें हिस्सा लेने से नेपाल मुकर गया और चीन के साथ सोमवार को चेंगडू में शुरू हो रहे सैन्य अभ्यास में हिस्सा लेने पहुंच गया। जनरल रावत ने अपने संबोधन में यह स्पष्ट किया कि सब कुछ आर्थिक प्रतिस्पर्धा है। भारत-चीन के बीच बाजार पर कब्जा करने की होड़ है और इसीलिए पड़ोसी देश उसी को महत्व दे रहे हैं, जहां आर्थिक सहयोग की संभावना ज्यादा है। जनरल रावत के बयान में भारत के आर्थिक और सामरिक राजनय का पूरा खाका उभरा है। इसीलिए उन्होंने नेपाल और भूटान को स्पष्ट रूप से कहा कि भले चीन के पास धन बहुत है और वह कई देशों पर लुटा रहा है लेकिन, उन्हें यह याद रखना चाहिए कि कोई भी आर्थिक मदद मुफ्त में नहीं दी जाती। इस मामले में जनरल रावत ने अमेरिका और पाकिस्तान का उदाहरण ठीक ही दिया। दरअसल, आज की सामरिक नीति आर्थिक नीति पर ही निर्भर हो चुकी है। 20वीं

सदी में भले ब्रिटेन आर्थिक रूप से कमजोर होता जा रहा था लेकिन, अपनी सैन्य शक्ति बनाए हुए था। 21वीं सदी में स्थिति पलट गई है और जो देश आर्थिक रूप से मजबूत होंगे वे ही सामरिक संगठन निर्मित कर सकेंगे। जनरल रावत भारत की उस नीति की ओर संकेत कर रहे थे, जो किसी देश का शोषण और उसका इस्तेमाल आतंक के लिए करने की नहीं रही है। भारत की नीति आतंकवाद के विरोध की रही है और वह च्पड़ोसी को प्रथम वरीयता देने और पूर्व के देशों को महत्वज् देने के मार्गपर चल रहा है। ऐसे में दोनों देशों को भारत के साथ भौगोलिक निकटता को समझना चाहिए और मानना चाहिए कि वे चाहकर भी भारत से बहुत दूर रह नहीं सकते। भारत के साथ माइलेक्स-18 के युद्धाभ्यास में बांग्लादेश, भूटान, म्यांमार और श्रीलंका शामिल हुए और नेपाल ने पर्यवेक्षक भेजे और इसीलिए रक्षा राज्यमंत्री सुभाष भामरे ने नेपाली सेना की भागीदारी न होने को तूल नहीं दिया।

---

नईदुनिया

***Date: 18-09-18***

# बंद करें तानाशाही का झूठा प्रलाप

## जब तक कानून का राज है और अदालतें फैसले सुनाने को स्वतंत्र हैं, तब तक किसी सरकार को तानाशाह नहीं कह सकते।

**योगेंद्र नारायण , (लेखक राज्यसभा के पूर्व महासचिव हैं)**

बीते दिनों उपराष्ट्रपति एम वेंकैया नायडू की पुस्तक का लोकार्पण करते हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने कहा, 'वेंकैया जी बहुत अनुशासित हैं, लेकिन हमारे देश की स्थिति ऐसी हो गई है कि अनुशासन को आसानी से अलोकतांत्रिक कह दिया जाता है। यदि कोई अनुशासन की बात करता है तो उसे तानाशाह करार देने लगते हैं...पूरा का पूरा शब्दकोश खुल जाता है। उनका यह बयान भारतीय लोकतंत्र के अपेक्षाकृत अव्यवस्थित स्वरूप को देखते हुए बेहद महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसे लोकतंत्र में जहां हर किसी को हल्के में लिया जाता है। जहां कोई भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की आड़ में किसी की परवाह किए बिना गैरजिम्मेदाराना तरीके से अपने विचार टीवी, रेडियो और सोशल मीडिया पर रख सकता है। ऐसा करते हुए उसे मानहानि का भी डर नहीं सताता, क्योंकि भारत में न्याय का पहिया बहुत सुस्त रफ्तार से घूमता है। ऐसा ही एक मामला यूएस ओपन टेनिस प्रतियोगिता के दौरान भी देखने को मिला, जहां अंपायर कार्लोस ने नियमों के तहत सेरेना विलियम्स पर पेनल्टी रूल लगा दिया। इसके चलते खेल का रुख उनकी प्रतिद्वंद्वी खिलाड़ी के पक्ष में झुक गया। इस पर सेरेना ने अंपायर को 'सेक्सिस्ट से लेकर चोर और धोखेबाज तक कहा जाने लगा। ऐसी आलोचना पर प्रतिक्रिया देते हुए इंटरनेशनल टेनिस फेडरेशन ने कहा कि अंपायर का फैसला संबंधित नियमों के अनुरूप ही था। क्या सख्त नियमों को लागू करना किसी को तानाशाह बना देता है?

स्वतंत्र भारत के बीते 70 वर्षों का इतिहास दर्शाता है कि लोकतंत्र तभी कमजोर हुआ है जब राजनीतिक दृढ़ता के अभाव और संविधान एवं कानूनों के लागू न होने से सरकारी संस्थान अक्षम हो गए। उस वक्त ऐसी चर्चा होती थी कि देश को एक तानाशाह की दरकार है। 1970 के दशक के शुरुआती वर्षों में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के रूप में एक शक्तिशाली नेता का उदय हुआ। उन्होंने सरकारी कार्यालयों, लोकसेवकों और प्रशासन को अनुशासित बनाते हुए सरकारी कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक क्रियान्वयन किया, मगर उनके समय डरावना आपातकाल भी थोपा गया। आपातकाल ने अनुशासन की लक्ष्मणरेखा को लांघ दिया। नागरिक स्वतंत्रता का हनन करते हुए मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन को अदालत में चुनौती देने के अधिकार को भी निलंबित कर दिया गया। आपातकाल पर विचार व्यक्त करने में प्रेस की आजादी भी छीन ली गई। आपातकाल का विरोध करने वाले नेताओं और प्रतिरोध जताने वाले संपादकों को भी जेल में डाल दिया गया। इससे इंदिरा गांधी सरकार तानाशाही में तब्दील हो गई।

महाराष्ट्र पुलिस ने पिछले दिनों जिन पांच कथित माओवादियों को गिरफ्तार किया, उनके पास अभी भी यह अधिकार है कि वे इसके खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अर्जी दाखिल कर अपनी गिरफ्तारी को नजरबंदी तक सीमित करा दें। यदि सत्तारूढ़ दल का कोई जनप्रतिनिधि विपक्षी दलों को धमकाता है तो वे उसके खिलाफ पुलिस या अदालतों में प्राथमिकी दर्ज करा सकते हैं। हाल में ऐसी कई घटनाएं सामने आई हैं जहां कथित रूप से मवेशियों का व्यापार करने वाले लोगों की हिंसक भीड़ द्वारा हत्या कर दी गई। इस भीड़ को कथित रूप से हिंदुत्ववादी संगठनों का समर्थन मिला हुआ था। ऐसी घटनाओं ने सत्तारूढ़ पार्टी को बहुत बदनाम किया है, परंतु सरकार के शीर्ष स्तर पर प्रधानमंत्री और गृहमंत्री ने न केवल ऐसी घटनाओं की कड़े शब्दों में निंदा की, बल्कि राज्य सरकारों को ऐसे मामलों से सख्ती से निपटने के निर्देश भी दिए। ऐसे में जब तक कानून का राज कायम है और अदालतें अपने फैसले सुनाने को स्वतंत्र है, तब तक किसी भी सरकार को अधिनायकवादी या तानाशाह करार नहीं दिया जा सकता। संसद या विधानमंडलों के प्रति राजनीतिक कार्यपालिका को जवाबदेह बनाने वाला हमारा संविधान सुनिश्चित करता है कि यहां तानाशाही या निरंकुश व्यवस्था कभी चल नहीं सकती।

क्या मजबूत नेतृत्व निरंकुशता की ओर बढ़ता है? ऐसा जरूरी नहीं है। यदि फैसले कैबिनेट द्वारा सामूहिक रूप से किए जा रहे हैं और यदि कानूनों को पारित होने के लिए संसद एवं विधानमंडलों की स्वीकृति की जरूरत बनी हुई है, तब सरकारें किसी भी सूरत में निरंकुश नहीं हो सकतीं। आपातकाल के दौर में ऐसा नहीं था। उस हालत में क्या हो सकता है, जब किसी एक दल को संसद में पूर्ण बहुमत हासिल हो? ऐसे में दो स्थितियां उत्पन्न् हो सकती हैं। पहली स्थिति में एक ही पार्टी को संसद के दोनों सदनों में पूर्ण बहुमत हासिल हो। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि सत्तारूढ़ दल को लोकसभा में तो बहुमत हासिल हो, लेकिन उच्च सदन यानी राज्यसभा में वह बहुमत के आंकड़े से दूर हो। एक तीसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि उक्त दोनों ही स्थितियों के साथ कई दलों का गठबंधन सत्ता में हो। पहली स्थिति में संभव है कि सत्तारूढ़ दल अपने विधेयकों को बिना किसी दिक्कत के पारित करा ले, फिर भी उसके लिए संविधान का उल्लंघन करने वाला कोई कानून बनाना असंभव है, क्योंकि उस पर न्यायपालिका का हथौड़ा चल सकता है। संविधान के मूल सिद्धांतों के संरक्षक के रूप में न्यायपालिका संविधान के मूल ढांचे में किसी भी तरह के व्यापक संशोधन को बर्दाश्त नहीं करेगी। दूसरी स्थिति में तो उच्च सदन हमेशा निचले सदन द्वारा पारित विधेयकों को खारिज कर सकता है, केवल धन विधेयक ही अपवाद हो सकते हैं। यदि गठबंधन सरकार की बात करें तो क्षेत्रीय क्षत्रपों और छोटे दलों के हितों के समक्ष सबसे बड़े दल के लिए निरंकुशता की कोई गुंजाइश ही नहीं बनती। इस सबके अलावा दलबदल विरोधी कानून भी है जिसे सभी दलों ने सर्वसम्मति से पारित किया था। इसके तहत पाला बदलने पर किसी भी जनप्रतिनिधि की सदस्यता खत्म हो सकती है। किसी भी दल के धड़े के अन्य दल में विलय के लिए न्यूनतम दो तिहाई सदस्यों की जरूरत होती है। यहां तक कि सदस्य जिस दल से संबंध रखता है, उसके ह्विप का उल्लंघन भी पार्टी द्वारा उसे बाहर

का रास्ता दिखाने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार देखें तो हमारे विधायी तंत्र में चुने हुए सदस्यों पर एक अनुशासन लागू होता है। जब ऐसे कानून के तहत कार्रवाई होती है, तब किसी कदम को भला निरंकुश कैसे कहा जा सकता है?

दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारियों को सदन के भीतर कार्यवाही के नियमन का दायित्व मिला हुआ है। असंतुष्ट सदस्यों द्वारा अब उन पर निरंकुश होने के आरोप लगाए जाने लगे हैं। सभापति द्वारा उनकी मनमानी न माने जाने पर वे शिकायती लहजे में रहते हैं। ऐसे सदस्य क्यों भूल जाते हैं कि सदन के कार्यसंचालन के नियम भी तो संसद सदस्यों द्वारा ही बनाए जाते हैं। पीठासीन अधिकारी उन्हीं नियमों को लागू करता है तो उसे निरंकुश कैसे कह सकते हैं? यह नियमों पर आधारित अनुशासन ही है जो किसी भी संगठन को एकजुट रखता है, भले ही वे सियासी संगठन हों या सामाजिक। परिवार पर भी यही व्यवस्था लागू होती है। ऐसे अनुशासन को लागू करना किसी भी लिहाज से निरंकुशता नहीं है।

---

***Date: 18-09-18***

# सरहद की सुदृढ़ सुरक्षा

**संपादकीय**

जम्मू में पाकिस्तान से लगती अंतरराष्ट्रीय सीमा पर 11 किलोमीटर लंबी स्मार्ट फेंस की एक परियोजना का उद्घाटन करते हुए गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने यह जो जानकारी दी कि देश की सीमाओं को सुरक्षित करने के लिए संवेदनशील मानी जाने वाली सरहद पर करीब दो हजार किमी लंबी ऐसी ही आधुनिक बाड़बंदी की जाएगी उसकी एक अर्से से प्रतीक्षा की जा रही थी। कायदे से तो अब तक ऐसे सीमांत क्षेत्रों में प्रभावी बाड़बंदी हो जानी चाहिए थी। कम से कम अब तो यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि सीमाओं के वे सभी हिस्से यथाशीघ्र स्मार्ट फेंस से लैस हों जहां से घुसपैठ, तस्करी अथवा अन्य अवैध गतिविधियां होती रहती हैं।

दरअसल ऐसा होने पर ही यह कहा जा सकेगा कि हमारी सीमाएं वास्तव में सुरक्षित और अभेद्य हैं। अभी ऐसी स्थिति नहीं है। वर्तमान में केवल जम्मू-कश्मीर में ही अंतरराष्ट्रीय सीमा रेखा और वास्तविक नियंत्रण रेखा पर सेंध नहीं लगती रहती। ऐसा ही कुछ पश्चिम बंगाल और पूर्वोत्तर के कई राज्यों की सीमाओं पर भी होता रहता है। आज अगर पश्चिम बंगाल और असम में बांग्लादेशी घुसपैठिये एक गंभीर मसला बन गए हैं तो सीमाओं में सेंध लगते रहने के कारण ही। इसी तरह यदि म्यांमार के रोंहग्या देश के पूर्वोत्तर क्षेत्र से घुसकर जम्मू तक फैल गए तो इसका कारण भी सीमाओं की सही तरह निगरानी न हो पाना है। असुरक्षित सीमाएं केवल सीमांत इलाकों के लिए ही समस्याएं नहीं पैदा करतीं। वे राष्ट्रीय हितों को भी गंभीर क्षति पहुंचाती हैं। नि:संदेह सीमाओं पर तमाम ऐसे क्षेत्र हैं जो बेहद दुरूह हैं और जिनकी सतत निगरानी करना कठिन है, लेकिन इस कठिन काम को और अधिक सतर्कता से करने के अलावा और कोई उपाय नहीं।

स्मार्ट फेंस की परियोजना का उद्घाटन करने के बाद गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने पाकिस्तान से संबंधों पर यह उम्मीद तो जताई कि उसके रवैये में बदलाव आना चाहिए, लेकिन इसी के साथ उन्होंने यह भी कहा कि इमरान खान के प्रधानमंत्री

बनने से शायद ही कोई फर्क पड़े। यदि वाकई फर्क नहीं पड़ता जिसका कि अंदेशा अधिक है तो इसका मतलब है कि संघर्ष विराम का उल्लंघन भी होता रहेगा और पाकिस्तान प्रशिक्षित आतंकी घुसपैठ की कोशिश भी करते रहेंगे। वे ऐसी कोशिश तब तक करते रहेंगे जब तक उन्हें कामयाब होने का भरोसा बना रहेगा।

पाकिस्तान और साथ ही उसे पाले-पोसे आतंकियों के इरादों को नाकाम करने में स्मार्ट फेंस एक बड़ी हद सहायक बन सकती है, क्योंकि वह सेंसर्स, ग्राउंड रडार, थर्मल इमेजर, लेजर आदि से लैस होगी। समझना कठिन है कि ऐसी बाड़बंदी के बारे में समय रहते क्यों नहीं सोचा गया और वह भी तब जब सीमा की सुरक्षा करने वाले जवानों के समक्ष जोखिम बढ़ता जा रहा था? यद्यपि आधुनिक बाड़बंदी के बाद भी सीमाओं की सुरक्षा के लिए तैनात जवानों को चौकस रहना होगा, लेकिन इतना तो है ही कि उन्हें कहीं कम खतरों का सामना करना पड़ेगा। बेहतर होगा कि स्मार्ट फेंस परियोजना को गति देने के साथ ही जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तान से लगती सीमा के निकट रह रही आबादी को सुरक्षित कवच देने के किसी उपाय पर भी विचार किया जाए।

---

THE HINDU

***Date: 17-09-18***

# Covering the last field

## *Reinvigorate the crop insurance scheme to provide social protection to every farmer*

**Pramod Aggarwal is Programme Leader-South Asia, of the CGIAR Programme on Climate Change, Agriculture and Food Security**

Excess rains and floods in Kerala, deficit rainfall in eastern and north-eastern India, and associated large-scale crop losses have again highlighted the need for providing social protection to poor farmers. A highly subsidised Pradhan Mantri Fasal Bima Yojana (PMFBY) was launched in 2016 to provide insurance to farmers from all risks. Aiming to reduce basis risk and premium burden of the farmers, the scheme's total expenses today are almost ₹30,000 crore. In comparison to earlier schemes, the PMFBY is more farmer friendly, with sums insured being closer to the cost of production. The scheme's linkage with parallel programmes like the 'Jan Dhan Yojana' and 'Digital India' makes it a truly inclusive and welfare-based scheme. The scheme therefore led to increased coverage of 5.7 crore farmers in 2016 and the sum insured crossed ₹200,000 crore. However, notwithstanding its ambition and intent, the scheme since its operation has been scrutinised more for its misses than its hits.

Some handicaps of the scheme are: outmoded method of crop loss assessment; inadequate and delayed claim payment; high premium rates; and poor execution. Consequently, in 2017, the expansive coverage of the scheme suffered some setback as seen in a drop of nearly one crore farmers in enrolment (about 17%). Such shortcomings have inspired recent announcements such as that of Bihar to start its own scheme, the "Bihar Rajya Fasal Sahayata Yojna".

**Giving it teeth**

In order to make the PMFBY a sustained developmental action for a comprehensive climate risk protection for every Indian farmer, the following action points are suggested.

**Faster and appropriate claim settlement:**

Timely estimate of loss assessment is the biggest challenge before the PMFBY. The Achilles heel of the PMFBY (and most likely for the Bihar variant) is the methodology deployed for crop loss assessment: the crop cutting experiments (CCEs). CCEs are periodic exercises conducted nationwide every season to determine crop yields of major crops. Sample villages are chosen through scientifically designed surveys, and crops are physically harvested to determine yields. These experiments require huge capital and human resources and have to be done simultaneously all over India in a limited time. Therefore, they have large errors.

To improve the efficacy of the PMFBY, technology use must be intensified. With options such as available today, such as detailed weather data, remote sensing, modelling and big data analytics, the exercise of monitoring crop growth and productivity can be not only more accurate and efficient but also resource saving. Hybrid indices, which integrate all relevant technologies into a single indicator, are good ways to determine crop losses. Their deployment can assist in multi-stage loss assessment and thus provide farmers with immediate relief for sowing failure, prevented sowing and mid-season adversity apart from final crop loss assessment.

The whole process of monitoring can be made accessible and transparent to farmers, policy-makers and insuring agencies alike through an online portal. Immediate claims settlements can be made once this is linked to the process of direct benefit transfers.

**Universal and free coverage for all smallholders:**

Farmers' awareness about the scheme and crop insurance literacy remain low in most States, especially among smallholders in climatically challenged areas in most need of insurance. The complicated enrolment process further discourages farmers. To increase insurance coverage we should think of a system whereby farmers do not need to enrol themselves and every farmer automatically gets insured by the state. This will provide social protection to every farmer if the full premium of smallholders is also paid by the state. It is not an expensive proposition. Currently, farmers pay a capped premium rate of 1.5-2%, while the rest is shared equally between the States and the Centre. At this rate, if today all 14 crore farmers were to be insured under the PMFBY, they would need to pay the premium close to ₹10,000 crore annually. If no premium is charged from marginal and small farmers (who own less than 2 hectares and account for 12 crore out of 14 crore) and only partial subsidy on actuarial premium is given to others, almost the same revenue can be collected, but in the process, coverage can go up almost 100%. Such differential subsidies are already applicable in urban areas for water and electricity.

**Improved and transparent insurance scheme design:**

Insurance companies are supposed to calculate actuarial rates, and based on tenders, the company quoting the lowest rate is awarded the contract. We have seen rates quoted by companies for the same region and for the same crop varying from 3% to more than 50%. Such large variations are irrational. One reason for such inflated premiums is lack of historical time series of crop yields at the insured unit level. To minimise their risks caused by missing data and to account for other unforeseen hazards, insurance companies build several additional charges on pure premium. Science has the capacity today to

characterise risks and reconstruct reasonably long-time series of yields. The premium rates, and hence subsidy load on the government, can come down significantly if we make greater use of such proxies and appropriate sum insured levels.

If such a comprehensive social protection scheme is implemented, there would be opportunities for further rationalisation of subsidies. The government today spends more than ₹50,000 crore annually on various climate risk management schemes in agriculture, including insurance. This includes drought relief, disaster response funds, and various other subsidies. Climate-risk triggered farm-loan waivers are an additional expense. All these resources can be better utilised to propel farm growth.

---

***Date: 17-09-18***

# The power of Kudumbashree

## *The Kerala model can be implemented across India with the same secular and gender-sensitive spirit*

**Brinda Karat is a member of the CPI(M) Polit Bureau and a former Rajya Sabha MP**

Kumari died on September 1. She had contracted leptospirosis while doing relief work in Kerala after the floods, away from her own home which had not been affected. She was a health volunteer and prominent member of the Kudumbashree Mission in her panchayat in Ernakulum district. Kumari's work and life symbolises the spirit of Kerala reflected in the inspirational way in which the people of the State have faced the worst disaster in a century.

**United in relief work**

Among the heroic stories of selfless community service are those of the Kudumbashree women, who have perhaps not got the attention they deserve. The attention is necessary not just to accord women relief helpers like Kumari recognition and appreciation, but also to understand how such an enormous, effective and well-planned intervention could be made across the State by women through their own initiatives.

One got a glimpse of the process at a district-level informal review meeting of around 60 key coordinators of Kudumbashree in Kozhikode, which suffered landslides and heavy rain. Women from working class families, women from the lower middle class and middle class, Muslim women and Dalit women were present. They were a microcosm of the 2.43 lakh groups functioning across the State.

Within a day or two of the deluge, the Kudumbashree members started contacting each other to discuss what they should do. They divided themselves into squads of five to six members and started relief work. They were helped by the district coordination team of five women, who were on deputation to the Kudumbashree Mission from the government. Within a short span of time, there were 7,000 women volunteers engaged in various tasks. When the situation in their district improved, some of them set out

to neighbouring districts like Thrissur and Wayanad to help. Many of these women have family responsibilities, but they convinced their families of the urgency of the work at hand and set off with all the equipment required for cleaning which they themselves had collected through sponsorships. Some of them went to relief camps to distribute relief material; others went to tribal areas which had been badly affected by landslides.

Volunteers Zarina and Sudha said: "We saw mounds of foul-smelling black mud piled outside the houses blocking the entrances and, in some cases, partially covering the houses. There were dead animals too. At first we were looked at with suspicion. But when we started working, we saw relief on the tribal women's faces. We all worked together. We stood, sometimes knee-deep, in the filthy mud and began removing it. It was difficult work and one group could clean only a few houses in a day. We knew we could fall ill or be stung by poisonous insects or snakes, but we were not afraid. Tribal women and members of Kudumbashree from nearby areas also joined us."

Like Zarina and Sudha, around 4,00,000 women of Kudumbashree self-mobilised across the State to do relief work, including collecting, packing and distributing relief material, cleaning up public spaces and private homes, and counselling affected families and putting them in touch with concerned authorities. The Kudumbashree State Mission estimates that Kudumbashree groups cleaned up 11,300 public places including schools, hospitals, panchayat buildings, and anganwadi centres, and two lakh houses. Around 40,000 affected families received counselling and information assistance from Kudumbashree groups. To provide shelter to families rendered homeless by the floods, 38,000 Kudumbashree members opened up their own homes. Kudumbashree members also donated ₹7.4 crore to the Chief Minister's Distress Relief Fund. This scale of voluntary relief work by women is quite unprecedented by any standard.

**A unique model**

How were these women motivated? The Kudumbashree model may provide some answers. Started in 1998 by the CPI(M)-led government, it was envisioned as a part of the People's Plan Campaign and local self-governance, with women at the centre of it. In its conceptualisation, it was markedly different from the self-help group (SHG) movements in many parts of India. While the commonality with other States was in the thrift and credit activities at the grassroots level through the formations of saving groups, the structures differed.

Kudumbashree has a three-tier structure. The first is the basic unit — the neighbourhood groups (NGs). There could be several such units within a ward and they are networked through the area development societies (ADS). All ADSs are federated through the community development societies (CDS). There are core committees of elected coordinators at all three levels — at least five in each NG; seven or more at the ADS level, depending on the number of NGs; and around 21 at the CDS level. Unlike in other States, all the coordinators are elected in Kerala. Each Kudumbashree member has a vote. Direct elections for the NG coordinators are held every three years. These people, in turn, elect the coordinators of the ADS who elect the members of the CDS. A majority of the members of the coordinator groups have to belong to women below the poverty line or from comparatively poorer sections. There is reservation for Dalit and Adivasi women. At the district and State levels, employees/officers of the government are appointed on deputation to help the Kudumbashree groups. Thus, there is a socially representative leadership.

This secular composition acts as a facilitator for the secularisation of public spaces. In other States, SHGs came to be dominated by women from better-off families or from powerful castes. This led to unhealthy hierarchies in which poorer women and Dalit women were denied decision-making powers. Over the

years, as women dropped out from these sections for a number of reasons, the social potential of the SHGs to challenge dominant structures of gender bias at the local level weakened.

The micro-enterprises undertaken by the women NGs in Kerala also strengthen community bonds. These include organic vegetable growing, poultry and dairy, catering and tailoring. The concepts and practices have expanded over the years. Today the community farms run by Kudumbashree groups are acknowledged as a critical avenue for the rejuvenation of agricultural production in Kerala. Kudumbashree training courses are quite comprehensive and include women's rights, knowledge of constitutional and legal provisions, training in banking practices, and training in skills to set up micro-enterprises.

The Kudumbashree groups are therefore often seen as a threat by those who would like women to adhere to socially conformist roles. In earlier years, women of the Kudumbashree groups had to organise protests when the Congress-led government drastically cut the budgetary allocation of funds and floated a parallel Janashree project. The BJP and RSS have also floated parallel groups, but so far these groups have not been able to make much headway.

Although conceived, initiated and helped by the Left Front governments and supported by Left-oriented organisations, the Kudumbashree groups are not affiliated to any political party. This 'Made in Kerala' model can be implemented across India, if it is done with the same secular and gender-sensitive spirit.